

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

डॉ० निर्मला गुप्ता*

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान, सार्वभौम एवं विश्वजनीन संस्कृति है। यह प्रथम 'विश्ववारा' संस्कृति है, यह 'मृत्युंजय' संस्कृति है। भारत स्वयं संस्कृति है, भारत स्वयं धर्म है। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक वैविध्य को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष को 'संसार का संक्षिप्त प्रतिरूप' कहा गया है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक एवं समन्वयवादी संस्कृति है। साधारणतया सब संस्कृतियों की कतिपय विशेषताएं होती हैं और उन्हीं विशेषताओं के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों की अपनी एक अलग पहचान बनती है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में भी कतिपय ऐसे विशिष्ट तत्वों का समावेश है जो उसे एक सर्वथा भिन्न संस्कृति का स्वरूप प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि भारतीय संस्कृति को 'भारतीय' क्यों माना गया है?

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय संस्कृति की 'सांस्कृतिक सीमा' उसकी भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमा से प्रायः अधिक विस्तृत रही है। भारतीय संस्कृति से हमारा अभिप्राय उस संस्कृति से है जिसका जन्म भारत में हुआ और जिसका प्रसार भारत की राजनीतिक एवं भौगोलिक सीमाओं से आगे दक्षिण पूर्व एशिया, मध्य एशिया एवं सुदूर पूर्व के अन्यान्य देशों में हुआ जिसके परिणाम स्वरूप 'वृहत्तर भारत' का प्राचीन स्वप्न मूर्त रूप ले सका।

भारतीय संस्कृति अपनी अनेक मूलभूत विशेषताओं के साथ वह संस्कृति है जो वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, महाकाव्यों, पुराणों, सूत्रग्रन्थों, धर्म ग्रन्थों एवं स्मृतियों में संरक्षित शाश्वत मानवीय मूल्यों के आधार पर पुष्पित एवं पल्लवित हुई। यह संस्था आर्य एवं आर्येत्तर, वैदिक एवं वैदिकेत्तर, ब्राह्मण एवं श्रमण, हिन्दू एवं इस्लामिक धाराओं के समन्वित रूप का प्रतिनिधित्व करती है। बौद्धों, जैनों, सन्तों एवं सूफियों में इस संस्कृति को संशोधित, परिभाषित एवं समृद्धिशाली बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। भारतीय संस्कृति का जन्म 'सप्त सैन्धव' क्षेत्र में हुआ। वहां से इसका फैलाव ब्रह्मर्षि वंश, ब्रह्मवर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त, जम्बुद्वीप या (?) भारतवर्ष में हुआ। भारतवर्ष की एवं भरत वंशियों की संस्कृति होने के नाते इसे 'भारतीय संस्कृति' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इस बात की पुष्टि विष्णु पुराण के निम्नलिखित उद्धरण से हो जाती है—

“उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।”¹

अर्थात् समुद्र के उत्तर में, हिमालय के दक्षिण में जो (देश) है, वह भारत नाम का खण्ड (कहलाता) है और जहाँ के (लोग) भारत की सन्तान कहलाते हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से भारतीय संस्कृति विश्व की आदि सभ्यताओं में से एक है। डॉ० आर० के० मुकर्जी के अनुसार — “भारतीयों ने संस्कृति और सभ्यता में जो पहले ही उन्नति की, उसका कारण यह था कि वे आरम्भ में ही भारत देश को अपनी मातृभूमि बना सके थे।”² समस्त देश के लिए उन्होंने 'भारतवर्ष' नाम दिया। भारतीयों के लिए भारतवर्ष नाम केवल भौगोलिक संज्ञा नहीं है। “उसका ऐतिहासिक महत्व है और इसका अर्थ है 'भारत जन' को देश अथवा भारतीय आर्य संस्कृति का क्षेत्र जिसके मुख्य प्रचारक भरत लोग थे।”³

भारतवर्ष की विशिष्ट संस्कृति के निर्माण का मुख्य श्रेय इस देश के प्रधान 'जन' हिन्दूओं को है। इसलिए इस देश की संस्कृति को कई विद्वानों ने “हिन्दू संस्कृति” का नाम दिया है। कई इतिहासकारों ने हिन्दू सभ्यता का एक अन्य नामकरण 'हिन्दू धर्म' भी किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है कि 'हिन्दू धर्म' इस नाम से प्रसिद्ध भारत की आत्म संस्कृति की प्रधान विशेषताएं क्या हैं? विभिन्न अर्थपूर्ण नामों से अभिहित प्राचीन भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :-

1. वर्णाश्रम धर्म —

“हिन्दू धर्म की जो निजी परिभाषा है उसी में इनका संकेत भी मिलता है, अर्थात् वर्णाश्रम धर्म, वह धर्म जो वर्ण और आश्रम संज्ञक दो प्रकार के विभागों पर आश्रित है, एवं हिन्दू धर्म का सबसे विशिष्ट और उसमें एकता लाने वाला गुण है।”⁴

* असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, पी०जी० कालेज, पट्टी, प्रतापगढ़

मूलतः जैसा कि वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार अपने में पूर्ण सामाजिक वर्गों या जातियों में समाज का बंटवारा करने में वर्ण संस्था का जन्म हुआ। समय पाकर ये जातियां अनेक उपजातियों में बंट गईं। इस समय भारत भर में हिन्दू सैकड़ों जातियों और उपजातियों में बंटे हुए हैं।

जाति-पांति के भेद के विषय में, जो भारतीय सामाजिक जीवन की बड़ी विशेषता है, बहुत भ्रम भी पाया जाता है। डॉ० मुकर्जी का यह कथन पूर्णतः युक्तिसंगत है कि "इसका सम्बन्ध मुख्यतया व्यक्ति के निजी घरेलू और धार्मिक जीवन से है, सार्वजनिक जीवन से नहीं। इसमें दो भिन्न-भिन्न जातियों के परस्पर रोटी-बेटी के सम्बन्ध का निषेध है, अर्थात् सन्ततिशास्त्र के आधार पर दो भिन्न जातियों के व्यक्ति आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते और न एक ही थाली में बैठकर भोजन कर सकते हैं, अथवा अशुद्ध हाथों से छुआ हुआ (दूषित) भोजन कर सकते हैं। भोजन व्यक्ति का निजी कर्म है। यह उतना ही पवित्र है जितना ईश्वर को सम्बोधित करके किया हुआ सांख्य कर्म।"⁵

परन्तु यहां यह भी स्मरणीय है कि जाति पांति का भेद हिन्दू धर्म का एक अंग मात्र है। उसका दूसरा अंग व्यक्ति के जीवन में चार आश्रमों में विभक्त है, जिनकी पूर्ति स्वाभाविक रीति से होनी चाहिए। ये आश्रम इस प्रकार हैं :-

1. ब्रह्मचारी या विद्या-अध्ययन करने वाला छात्र।
2. गृहस्थ या घर गृहस्थी संभालने वाला विवाहित व्यक्ति।
3. वानप्रस्थ या वन में रहने वाला भिक्षु, और
4. संन्यासी अथवा वह तपस्वी साधु जो ध्यान या ईश्वर चिन्ता में लीन रहता है।

जीवन का तीसरा आश्रम पचास वर्ष की आयु में आरम्भ होता है। इस काल में गृहस्थ के लिए उचित है कि वह सांसारिक और घरेलू जीवन से अपने को अलग कर ले और विश्व जनीन उच्च जीवन की साधना में तथा दूसरों की सेवा में अपने आप को लगा दें। अतः स्पष्ट है कि अपने बाह्य सामाजिक रूप में हिन्दू धर्म के दो अंग हैं— एक वर्ण व्यवस्था और दूसरी आश्रम व्यवस्था। दुर्भाग्य से आश्रमों की अपेक्षा जाति-पांति का महत्व अधिक बढ़ गया है।

भारतीय व्यवस्थाकारों एवं मनीषियों ने व्यक्ति और समाज को सन्तुलित विकास को ध्यान में रखकर वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया था, जिसका उद्देश्य था श्रम का विकेन्द्रीकरण करके कार्यकुशलता में वृद्धि करना एवं एतद् द्वारा समाज का पूर्ण विकास करना। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण को सुदृढ़ रूप प्रदान किया गया। गुण और कर्म जैसे मूल्यों ने वर्ण विभाजन को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया और जन्म के सिद्धान्त ने उसे व्यावहारिक आधार प्रदान किया। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णों के सदस्यों की शक्ति एवं उनके अधिकारों का निश्चित संस्तरण किया गया व्यवसायों को रूप प्रदान किया गया, आध्यात्मिकता पर बल दिया गया, गुणात्मक प्रेरणा एवं मनोवैज्ञानिक के महत्व को स्वीकार किया गया। वर्ण व्यवस्था की इन उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता थी उसका अनुलोम विवाह पर आधारित होना।

वर्ण व्यवस्था का महत्व निम्नलिखित अन्य बातों में निहित हैं :-

1. वर्णों के सदस्यों के कर्तव्यों एवं अधिकारों का निश्चित संस्तरण कर दिया गया, परिणामतः लोगों को सामाजिक संघर्षों से छुटकारा मिल गया। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।
2. वर्ण व्यवस्था से श्रम विभाजन एवं विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।
3. विशिष्ट योग्यता के आधार पर व्यक्ति अपने पूर्ण की सीमाओं को पारकर अपने से भिन्न वर्ण के कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता था। इससे सामाजिक गतिशीलता के सिद्धान्त को मजबूती मिली।
4. वर्ण व्यवस्था ने बहुत दिनों तक रक्त की पवित्रता को संरक्षित करने में मदद की।

अब जहां तक भारतीय आश्रम व्यवस्था का प्रश्न है, यह सम्पूर्ण विश्व के सामाजिक चिन्तन के इतिहास को भारतीय संस्कृति की एक विलक्षण देन है। प्लेटो की कृति 'रिपब्लिक' में इसकी कुछ छाया अवश्य विद्यमान है, लेकिन उर्विक जैसे विद्वानों ने इसे भारत की अनुकृति ही माना है। इतिहास के साक्ष्य इस धारणा की पूर्णतः पुष्टि करते हैं।

यदि वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य समग्र समाज की पूर्णता को प्राप्त करना था। वस्तुतः दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है क्योंकि समष्टि के हित में ही व्यक्ति का हित सम्मिलित है।

पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति, ऋणों से मुक्ति और पंच महायज्ञों के सम्पादन का कार्य व्यक्ति आश्रमों के माध्यम से ही करता था। चार वर्णों के सदस्यों द्वारा शास्त्र निर्दिष्ट 'स्वधर्म' का पालन, 'वर्ण धर्म' था एवं चार आश्रमों तथा चार वर्णों से सम्बद्ध विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना 'वर्णाश्रम धर्म' था। यहां ध्यातव्य है कि शूद्र को केवल 'गृहस्थ आश्रम' में ही रहने का अधिकार था।

वर्णों जातियों एवं आश्रमों की व्यवस्था के गुण दोष पर टिप्पणी करते हुए विद्वान् इतिहासकार डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी लिखते हैं— "जाति जन्म के आधार पर व्यक्तियों को एक दूसरे से अलग करती है, किन्तु आश्रम की प्रथा लोगों को ऐक्य की ओर खींचती है और सभी जातियों के लोगों को एक-एक आश्रम से सम्बन्धित विशेष प्रकार के नियमों में बांधती है, जिससे वे निश्चित मार्ग से स्वाभाविक अवस्थाओं को पार करते हुए उन्नति को ओर बढ़ सके।" अतः स्पष्ट है कि 'वर्णाश्रम धर्म' एक सामाजिक धारणा है जो मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए उपयुक्त कार्यों का निरूपण करती है।⁷

"विश्व के किसी अन्य देश या किसी दूसरी सभ्यता में मानव जीवन का ऐसा परिष्कृत और वैज्ञानिक विभाजन नहीं हुआ। ऐसे आदर्श तथा उपयोगी सामाजिक संगठन एवं सुव्यवस्था का उदय एवं विकास नहीं हुआ।"⁸ वर्णाश्रम व्यवस्था आर्यों के समाज की विशिष्टता थी। वर्णाश्रम ने आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और समाज को स्थायित्व दिया।

2. संस्कृत भाषा :-

हिन्दू संस्कृति की मुख्य वाहिका संस्कृत भाषा है। भारतीय जनता को एक सूत्र में बांधने के लिए संस्कृत का जो प्रभाव पड़ा है उसे पूरी तरह कह सकना कठिन है। मोनियर विलियन्स ने इस विषय में ठीक कहा है— "यद्यपि भारत में पांच सौ से अधिक बोलियां हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिन्दू धर्म के सभी अनुयायी, चाहे वे जाति-पांति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने ही भिन्न हों, मानते हैं और श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत है और व साहित्य संस्कृत साहित्य है। वही वेद या विश्वजनीन ज्ञान का एक मात्र कोश है। हिन्दू धर्म, दर्शन, व्यवहार शास्त्र और गाथा शास्त्र का एक मात्र साधन वही है।

केवल वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें हिन्दुओं के सभी मत-मतान्तर, विचार, रीति-रिवाज और प्रथाएं ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित हुई हैं, और (यदि एक चौथे रूपक का हम प्रयोग न कर सके तो) वही ऐसी खान है जहाँ से देशी भाषाओं को उन्नत करने की सामग्री मिल सकती है, अथवा महत्वपूर्ण धार्मिक और वैज्ञानिक विचारों के प्रकाशन की सामग्री प्राप्त की जा सकती है।"⁹

3. देश और संस्कृति में तादात्म्य स्थापित करने वाली विश्वजीन संस्कृति :-

अपनी निजी विशिष्टता रखने वाली इस भारतीय संस्कृति ने कालान्तर में इस प्रकार सारे देश को एकता के सूत्र में बांध दिया कि देश और संस्कृति अभिन्न समझी जाने लगी और एक दूसरे की समानार्थक हो गई। डॉ० मुकर्जी के अनुसार— "देश संस्कृति बन गया और संस्कृति देश बन गई। देश भौगोलिक रूप से ऊपर आध्यात्म जगत् का रूप बन गया। यह भारतीय आर्य संस्कृति जब ऋग्वेद के समय से यहां आरम्भ हुई तो पीछे के युगों में उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होती हुई। सप्त सिन्धु, ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त, मध्य देश, आर्यावर्त, जम्बूद्वीप अथवा भारत वर्ष नामक क्षेत्रों में फैल गई। यहां तक कि अपनी प्रबल महा प्राणता के कारण यह भारत की सीमाओं के उस पर विदेशों में भी पहुंच गई और उसने अपने लिए समुद्र पार के देशों में 'वृहत्तर भारत' का निर्माण कर लिया। भारतीय विचार और संस्थाएं आज तक स्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियों के साहित्य, मन्दिरों और स्तूपों की कलाकृतियों, लोकवार्ताओं, अनुश्रुतियों, रीति-रिवाजों और रहन-सहन में पायी जाती है। यह सब उपनिवेशों में जाने वाले भारतीयों के श्रम का फल है। इनमें से कुछ देशों ने अपना धर्म भी भारत से मिला लिया है, जैसे तिब्बत, नेपाल और चीन, जहां महायान बौद्ध धर्म का प्रचार है, एवं वर्मा, सिंगल, स्याम और कम्बोज देश जहां हीनयान बौद्ध धर्म का प्रचार है।"¹⁰

4. अनेक तत्वों का सम्मिश्रण :-

“भारतीय संस्कृति अनेक तत्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। द्रविड़, आर्य, ग्रीक, शक, युइशि, कुशाण, हूण, अफगान, मुगल आदि कितनी ही विविध जातियों के विचारों, विश्वासों और परम्पराओं के सम्मिश्रण से इसका विकास हुआ है।”¹¹

भारत के निवासी अन्य लोगों के विचारों व विश्वासों का सदा आदर करते रहें हैं और अपने में उन्हें मिलाने के लिए सदा तत्पर रहे। पं० जवाहर लाल नेहरू भारतीय संस्कृति की इस विलक्षणता की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं— “भारत की ओर मुझे देखने पर लगता है, कि जैसा दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामाजिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहनजोदड़ों आदि की सभ्यता और द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुंचता है, तो दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वय तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी।”¹²

भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक विलक्षणता को लक्ष्य करते हुए डा० रवीन्द्र नाथ टैगोर लिखते हैं —

“हे मोर चित्त पुन्य तीर्थे जागो रे धीरे,
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे।
के हो नहे जाने कार आह्वाने कतो मानुवेर धारा,
दुर्वार स्त्रोते एलो कोथाय होते समुद्रे होलो हारा।
हे थाय आर्य हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़ चीन,
शक, हून दल पाठान, मोगल, सबे एक देहे होलो लीन,
रनधारा बाही जयगान गाहि उन्माद कल रवे,
भेदि मरुपथ गिरि पर्वत जारा ए रौछिलो सबे।
तारा मोर माझे सवाई विराजे के हो न हे नहे दूर,
आमार शोभित रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।”¹³

अध्यात्म भावना के कारण जो सहिष्णुता यहाँ के लोगों में उत्पन्न हुई, उसी से यह बात सम्भव हो सकी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विष्णु पुराण, 3/1
2. हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 74
3. वही, पृष्ठ 75
4. डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी, “हिन्दू सभ्यता”, पृष्ठ 77
5. वही, पृष्ठ 77
6. डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी, “हिन्दू सभ्यता”, पृष्ठ 78
7. डॉ० बी० एन० लूनिया, “प्राचीन भारतीय संस्कृति”, पृष्ठ 128
8. वही, पृष्ठ 128
9. मोनियर विलियम्स, “हिन्दूइज्म”, पृष्ठ 13
10. डॉ० आर० के० मुकर्जी, “हिन्दू सभ्यता”, पृष्ठ 78-79
11. सत्यकेतु, विद्यालंकार, “भारतीय संस्कृति का विकास”, पृष्ठ 17
12. पं० जवाहर लाल नेहरू, “संस्कृति के चार अध्याय” (दिनकर), प्रस्तावना पृष्ठ 5-6, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 26 जनवरी, 1956
13. डा० रवीन्द्र नाथ टैगोर, “गीतांजलि”।